तथ्यों की एक्सपायरी तारीख

डॉ. सुशील जोशी

यदि कोई आपसे कहे कि जो जानकारी आज आप सत्य मानकर स्वीकार कर रहे हैं, वह अगले कुछ सालों में गलत ठहराई जा सकती है, तो पता नहीं आपको कैसा लगेगा। बहरहाल, आपको जैसा भी लगे मगर तथ्य यह है कि विज्ञान में जानकारी लगातार बदलती रहती है, पुरानी जानकारी या तो अर्थहीन हो जाती या गलत साबित हो जाती है। उदाहरण के लिए जिन लोगों ने 1956 से पहले जीव विज्ञान की पढ़ाई की होगी, उन्हें यही पढ़ाया गया होगा कि सामान्य मानव कोशिका में गुणसूत्रों की संख्या 48 होती है। दिक्कत यह है कि 1956 में यह पता चला था कि मानव कोशिका में गुणसूत्रों की संख्या 46 ही होती है। यहां उन प्रयोगों और अवलोकनों के इतिहास में नहीं जाएंगे जिनकी मदद से पहले 48 और बाद में 46 गुणसूत्रों की जानकारी प्राप्त की गई थी।

गुणसूत्र आनुवंशिक सूचना के वाहक होते हैं। यह सूचना डीएनए नामक रसायन के रूप में संचित होती है। दिलचस्प बात यह है कि इस डीएनए की आणविक संरचना का खुलासा 1953 में हो चुका था। यानी हम यह तो जान चुके थे कि डीएनए एक दोहरी कुंडली के रूप में पाया जाता है मगर गुणसूत्रों की 'सही' संख्या का पता इसके तीन साल बाद ही चला था।

हाल ही में हार्वर्ड विश्वविद्यालय के फेलो और एविंग मेरिअन काउफमैन फाउंडेशन के वरिष्ठ शोधकर्ता सेमुअल आर्बेसमैन की पुस्तक *दी हाफ लाइफ ऑफ फैक्ट्स* प्रकाशित हुई है। यह आलेख उसी पुस्तक में प्रस्तुत जानकारियों पर आधारित है।

गुणसूत्रों की संख्या में यह बदलाव आश्चर्य का विषय नहीं है; कम से कम वैज्ञानिकों के लिए तो बिलकुल भी नहीं, जो मानते हैं कि विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य सत्य के करीब पहुंचना है और इसलिए इसकी सूचनाओं व व्याख्याओं में निरंतर परिवर्तन अपरिहार्य हैं। दिक्कत तो विज्ञान पढ़ाने वालों को है। जब भी कोई नई जानकारी आती है, उसे पाठ्य पुस्तकों में शामिल करने की ताबड़तोड़ कोशिश की जाती है।

छात्रों को नवीनतम जानकारी से परिचित कराना तो गलत नहीं कहा जा सकता मगर जिस ढंग से पाठ्य पुस्तकें वैज्ञानिक जानकारी को प्रस्तुत करती हैं उससे अंतिम सत्य का एहसास मिलता है। छात्र कभी तैयार नहीं होते कि शायद आगे चलकर इसमें से काफी सारी जानकारी में संशोधन/फेरबदल या शायद पूरी तरह अस्वीकार करने की ज़रूरत पड़ सकती है।

पाठ्यक्रमों में जानकारी को ठूंस-ठूंसकर भरने के पीछे तर्क यही होता है कि विज्ञान में तेज़ प्रगति के चलते 'जानकारी का विस्फोट' हो रहा है और यदि यह जानकारी पाठ्यक्रम में शामिल न की गई तो छात्र पिछड़ जाएंगे। विज्ञान में प्रगति की तेज़ रफ्तार दरअसल इस तर्क को झुठलाती है। कोशिश तो यह होनी चाहिए कि छात्र नित नई जानकारी को संभालने व उसका उपयोग करने में समर्थ बनें, न कि आज उपलब्ध जानकारी को अंतिम सत्य मानकर रट लें।

विज्ञान में जानकारी के विस्फोट की बात पाठ्यक्रम निर्माताओं के बीच सदा से सरोकार का विषय रहा है। हाल ही में हुए कुछ अध्ययनों ने इस विस्फोट को सर्वथा नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। अध्ययन इस बात को लेकर हुए हैं कि विज्ञान में कोई तथ्य कितने समय में बासी पड़ जाता है या गलत साबित हो जाता है।

ऐसा एक अध्ययन पेरिस के पिटी-सालपेट्रिएर अस्पताल में थियरी पोयनार्ड और उनके साथियों द्वारा किया गया है। पोयनार्ड और उनके साथियों ने अपना ध्यान लीवर की दो बीमारियों पर केंद्रित किया - सिरोसिस और हिपेटाइटिस। उन्होंने पिछले 50 वर्षों में इन विषयों पर प्रकाशित करीब 500 आलेख इकट्ठे करके विशेषज्ञों की एक पैनल को

छानबीन के लिए सौंप दिए। हर विशेषज्ञ को यह बताना था कि कोई शोध पत्र आज तथ्यात्मक है, बासी पड़ चुका है या गलत साबित हो चुका है।

उन्होंने अपने अध्ययन के परिणाम *एनल्स ऑफ इंटर्नल मेडिसिन* में प्रकाशित किए हैं। विशेषज्ञों के आकलन के आधार पर उन्होंने एक चार्ट बनाया जिसमें यह स्पष्ट नज़र आता है कि कितनी तथ्यात्मक विषयवस्तु पिछले एक दशक भर टिकी रही। इस चार्ट से एक दिलचस्प बात पता चली: उन शोध पत्रों की संख्या में लगातार गिरावट जो आज भी वैध हैं। इसके अलावा चार्ट की मदद से वे तथ्यों की 'अर्द्धायु' की गणना भी कर पाए। यानी कितनी अवधि में आधे तथ्य गलत साबित हो जाते हैं। यह अवधि 45 वर्ष आई। यानी सिरोसिस और हिपेटाइटिस के बारे में चिकित्सकीय जानकारी में से करीब आधी 45 वर्षों में बासी पड़ जाती है या गलत साबित हो जाती है।

वैसे एक बात पर गौरतलब है। जैसे-जैसे कोई विषय या शोध-क्षेत्र परिपक्व होता जाएगा 'अर्द्धायु' में परिवर्तन होगा, तथ्य शायद ज़्यादा समय तक टिके रहेंगे या शायद और भी जल्दी-जल्दी बदलेंगे। मगर इससे इतना तो पता चलता ही है कि ज्ञान का क्षय होता है।

इस चार्ट के आधार पर पक्की तौर पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा शोध पत्र कितनी देर में बासी पड़ेगा मगर कुल जानकारी के बारे में ज़रूर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

इसी प्रकार का एक अध्ययन सर्जरी के बारे में पहले हो चुका है। *लैंसेट* में प्रकाशित इस अध्ययन में ऑस्ट्रेलिया के दो सर्जन्स ने पाया था कि सर्जरी के क्षेत्र में भी लगभग आधे तथ्य 45 वर्ष की अवधि में गलत साबित हो जाते हैं।

अब यह तो संभव नहीं है कि विज्ञान में अतीत के सारे निष्कर्षों के बारे में ऐसे चार्ट बनाकर अध्ययन किए जाएं। लिहाज़ा, इसका एक थोड़ा अलग तरीका निकाला गया है। जब कोई शोध पत्र छपता है, तो उसके महत्त्व के अनुसार अन्य शोध पत्रों में उसका उल्लेख किया जाता है। किसी शोध पत्र का उल्लेख जितने अधिक शोध पत्रों में हो, उसे उतना ही महत्त्वपूर्ण या प्रभावशाली शोध पत्र माना जाता है। यानी 'संदर्भ उल्लेख' शोध पत्रों के प्रभाव को नापने का एक तरीका है।

किसी शोध पत्र की सत्यता के क्षय को नापने का एक तरीका यह हो सकता है कि किसी विषय में एक औसत शोध पत्र का उल्लेख किया जाना कितनी देर में बंद हो जाता है। उल्लेख बंद होने का मतलब यह है कि या तो उस शोध पत्र में किसी की रुचि नहीं रही या नवीन शोध के चलते उसका खंडन हो चुका है या शायद वह इतना स्थापित तथ्य हो चुका है कि उसके लिए किसी संदर्भ के उल्लेख की ज़रूरत ही नहीं रह गई है।

बहरहाल, उल्लेखों के आधार पर भी कई क्षेत्रों में तथ्यों की 'अर्द्धायु' की गणना की जा सकती है। उदाहरण के लिए, *फिज़िकल रिव्यू* पत्रिकाओं में प्रकाशित समस्त शोध पत्रों के अध्ययन से पता चला कि भौतिकी में अर्द्धायु मात्र 10 साल के लगभग है। *फिज़िकल रिव्यू* काफी महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं का समूह है। इसी प्रकार से 2008 में सिमन्स कॉलेज के रॉन्ग टैंग ने प्रतिष्ठित पुस्तकों के एक विश्लेषण में पाया था कि भौतिकी में अर्द्धायु करीब 13.7 वर्ष है। यह अर्थ शास्त्र, गणित, मनोविज्ञान और इतिहास से ज़्यादा है।

यहां एक बात का ध्यान रखना ज़रूरी है। अर्द्धायु सम्बंधी उपरोक्त आंकड़े औसत हैं। कुछ तथ्य जल्दी बासी पड़ते हैं जबकि कुछ लंबे समय तक तरोताज़ा बने रहते हैं। इससे एक मुद्दा यह उभरता है कि हमारे पास यह जानने का कोई तरीका होना चाहिए कि किन तथ्यों के ज़्यादा लंबे समय तक कायम रहने की संभावना है। इसी आधार पर हम तय कर पाएंगे कि जानकारी के आधार पर कार्रवाई कैसे करें।

खास तौर से यह बात उन तथ्यों के बारे में महत्त्वपूर्ण हो जाती है जिनका उपयोग आम लोग करते हैं। जैसे आहार सम्बंधी जानकारी। संतुलित आहार क्या है, वसा का कितना उपयोग उचित है, नमक कितना खाना ठीक रहेगा वगैरह ऐसी जानकारियां हैं जो रोज़मर्रा के जीवन में महत्त्व रखती हैं। देखा जाए, तो पिछले वर्षों में इस तरह की जानकारी में निरंतर बदलाव आता रहा है। इसके आधार पर चिकित्सकों द्वारा दी जाने वाली सलाह भी बदलती रहती है।

दरअसल, कई चिकित्सा शिक्षा कार्यक्रमों में अब छात्रों को यह बताया जाने लगा है कि जो कुछ वे आज सीख रहे हैं उस पर निरंतर पुनर्विचार की ज़रूरत होगी और इसलिए उन्हें भी निरंतर अध्ययन करते रहना होगा।

इस संदर्भ में आर्बेसमैन ने सबसे सुंदर उदाहरण डायनासौर के विषय में दिया है। वे कहते हैं कि बचपन से वे डायनासौर के बारे में एक ऐसी जानकारी को सत्य मानते आए थे जो वास्तव में गलत थी। यह जानकारी थी कि *ब्रांटोसौरस* नामक एक डायनासौर कभी अस्तित्व में रहा था। यह तो उन्हें बाद में पता चला कि लंबी गर्दन और छोटे से सिर वाला यह जीव एक चित्र मात्र है। और इसका वास्तविक नाम *एपेटोसौरस* है। दरअसल 1978 में दो पुराजीव वैज्ञानिकों ने पाया था कि जिस कंकाल की मदद से *ब्रांटोसौरस* प्रजाति को पहचाना गया था उसकी गर्दन पर जो सिर रखा दिखता है, वह वास्तव में एक अन्य शाकाहारी डायनायौर का है, शेष शरीर *एपेटोसौरस* का है। जैव विकास के लंबे इतिहास में *ब्रांटोसौरस* का कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था। मगर *ब्रांटोसौरस* का मिथक इतना लोकप्रिय हुआ कि उसकी एक्सपायरी तारीख निकलने के बाद भी वह जीवित है। ***(स्रोत फीचर्स)***